

अध्याय बारह

भक्तियोग

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; एवम्—इस प्रकार; सतत—निरन्तर; युक्ताः—तत्पर; ये—जो; भक्ताः—भक्तगण; त्वाम्—आपको; पर्युपासते—ठीक से पूजते हैं; ये—जो; च—भी; अपि—पुनः; अक्षरम्—इन्द्रियों से परे; अव्यक्तम्—अप्रकट को; तेषाम्—उनमें से; के—कौन; योग-वित्-तमाः—योगविद्या में अत्यन्त निपुण ।

अर्जुन ने पूछा—जो आपकी सेवा में सदैव तत्पर रहते हैं, या जो अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म की पूजा करते हैं, इन दोनों में से किसे अधिक पूर्ण (सिद्ध) माना जाय ?

तात्पर्य

अब तक कृष्ण साकार, निराकार एवं सर्वव्यापकत्व को समझा चुके हैं और सभी प्रकार के भक्तों और योगियों का भी वर्णन कर चुके हैं। सामान्यतः अध्यात्मवादियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—निर्विशेषवादी तथा सगुणवादी। सगुणवादी भक्त अपनी सारी शक्ति से परमेश्वर की सेवा करता है। निर्विशेषवादी भी कृष्ण की सेवा करता है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से न करके वह अप्रत्यक्ष निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करता है।

इस अध्याय में हम देखेंगे कि परम सत्य की अनुभूति की विभिन्न विधियों में भक्तियोग सर्वोत्कृष्ट है। यदि कोई भगवान् का सान्निध्य चाहता है, तो उसे भक्ति करनी चाहिए।

जो लोग भक्ति के द्वारा परमेश्वर की प्रत्यक्ष सेवा करते हैं, वे सगुणवादी कहलाते हैं। जो लोग निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे निर्विशेषवादी कहलाते हैं। यहाँ पर अर्जुन पूछता है कि इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है। यद्यपि परम सत्य के साक्षात्कार के अनेक साधन हैं, किन्तु इस अध्याय में कृष्ण भक्तियोग को सबों में श्रेष्ठ बताते हैं। यह सर्वाधिक प्रत्यक्ष है और ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए सबसे सुगम साधन है।

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान् ने बताया है कि जीव भौतिक शरीर नहीं है, वह आध्यात्मिक स्फुलिंग है और परम सत्य परम पूर्ण है। सातवें अध्याय में उन्होंने जीव को परम पूर्ण का अंश बताते हुए पूर्ण पर ही ध्यान लगाने की सलाह दी है। पुनः आठवें अध्याय में कहा है कि जो मनुष्य भौतिक शरीर का त्याग करते समय कृष्ण का ध्यान करता है, वह कृष्ण के धाम को तुरन्त चला जाता है। यही नहीं, छठे अध्याय के अन्त में भगवान् स्पष्ट कहते हैं, कि योगियों में से, जो भी अपने अन्तःकरण में निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है, वही परम सिद्ध माना जाता है। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक अध्याय का यही निष्कर्ष है कि मनुष्य को कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अनुरक्त होना चाहिए, क्योंकि वही चरम आत्म-साक्षात्कार है।

इतने पर भी ऐसे लोग हैं जो कृष्ण के साकार रूप के प्रति अनुरक्त नहीं होते। वे दृढ़तापूर्वक विलग रहते हैं यहाँ तक कि *भगवद्गीता* की टीका करते हुए भी वे अन्य लोगों को कृष्ण से हटाना चाहते हैं, और उनकी सारी भक्ति निर्विशेष ब्रह्मज्योति की ओर मोड़ते हैं। वे परम सत्य के उस निराकार रूप का ही ध्यान करना श्रेष्ठ मानते हैं, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे है तथा अप्रकट है।

इस तरह सचमुच में अध्यात्मवादियों की दो श्रेणियाँ हैं। अब अर्जुन यह निश्चित कर लेना चाहता है कि कौन-सी विधि सुगम है, और इन दोनों श्रेणियों में से कौन सर्वाधिक पूर्ण है। दूसरे शब्दों में, वह अपनी स्थिति स्पष्ट कर लेना चाहता है, क्योंकि वह कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अनुरक्त है। वह निराकार ब्रह्म के प्रति आसक्त नहीं है। वह जान लेना चाहता है

कि उसकी स्थिति सुरक्षित तो है! निराकार स्वरूप, चाहे इस लोक में हो चाहे भगवान् के परम लोक में हो, ध्यान के लिए समस्या बना रहता है। वास्तव में कोई भी परम सत्य के निराकार रूप का ठीक से चिन्तन नहीं कर सकता। अतः अर्जुन कहना चाहता है कि इस तरह से समय गँवाने से क्या लाभ? अर्जुन को ग्यारहवें अध्याय में अनुभव हो चुका है कि कृष्ण के साकार रूप के प्रति आसक्त होना श्रेष्ठ है, क्योंकि इस तरह वह एक ही समय अन्य सारे रूपों को समझ सकता है और कृष्ण के प्रति उसके प्रेम में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता। अतः अर्जुन द्वारा कृष्ण से इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के पूछे जाने से परम सत्य के निराकार तथा साकार स्वरूपों का अन्तर स्पष्ट हो जाएगा।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; मयि—मुझमें; आवेश्य—स्थिर करके; मनः—मन को; ये—जो; माम्—मुझको; नित्य—सदा; युक्ताः—लगे हुए; उपासते—पूजा करते हैं; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; परया—दिव्य; उपेताः—प्रदत्त; ते—वे; मे—मेरे द्वारा; युक्त-तमाः—योग में परम सिद्ध; मताः—माने जाते हैं।

श्रीभगवान् ने कहा—जो लोग अपने मन को मेरे साकार रूप में एकाग्र करते हैं, और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरी पूजा करने में सदैव लगे रहते हैं, वे मेरे द्वारा परम सिद्ध माने जाते हैं।

तात्पर्य

अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जो व्यक्ति उनके साकार रूप में अपने मन को एकाग्र करता है, और जो अत्यन्त श्रद्धा तथा निष्ठापूर्वक उनको पूजता है, उसे योग में परम सिद्ध मानना चाहिए। जो इस प्रकार कृष्णभावनाभावित होता है, उसके लिए कोई भी भौतिक कार्यकलाप नहीं रह जाते, क्योंकि हर कार्य कृष्ण के लिए किया जाता है। शुद्ध भक्त निरन्तर कार्यरत रहता है—कभी कीर्तन करता है, तो कभी श्रवण

करता है, या कृष्ण विषयक कोई पुस्तक पढ़ता है, या कभी-कभी प्रसाद तैयार करता है या बाजार से कृष्ण के लिए कुछ मोल लाता है, या कभी मन्दिर झाड़ता-बुहारता है, तो कभी बर्तन धोता है। वह जो कुछ भी करता है, कृष्ण सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में एक क्षण भी नहीं गँवाता। ऐसा कार्य पूर्ण समाधि कहलाता है।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; अक्षरम्—इन्द्रिय अनुभूति से परे; अनिर्देश्यम्—अनिश्चित;
अव्यक्तम्—अप्रकट; पर्युपासते—पूजा करने में पूर्णतया संलग्न; सर्वत्र-गम्—
सर्वव्यापी; अचिन्त्यम्—अकल्पनीय; च—भी; कूट-स्थम्—अपरिवर्तित; अचलम्—
स्थिर; ध्रुवम्—निश्चित; सन्नियम्य—वश में करके; इन्द्रिय-ग्रामम्—सारी इन्द्रियों को;
सर्वत्र—सभी स्थानों में; सम-बुद्धयः—समदर्शी; ते—वे; प्राप्नुवन्ति—प्राप्त करते हैं;
माम्—मुझको; एव—निश्चय ही; सर्व-भूत-हिते—समस्त जीवों के कल्याण के लिए;
रताः—संलग्न।

लेकिन जो लोग अपनी इन्द्रियों को वश में करके तथा सबों के प्रति समभाव रखकर परम सत्य की निराकार कल्पना के अन्तर्गत उस अव्यक्त की पूरी तरह से पूजा करते हैं, जो इन्द्रियों की अनुभूति के परे है, सर्वव्यापी है, अकल्पनीय है, अपरिवर्तनीय है, अचल तथा ध्रुव है, वे समस्त लोगों के कल्याण में संलग्न रहकर अन्ततः मुझे प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य

जो लोग भगवान् कृष्ण की प्रत्यक्ष पूजा न करके, अप्रत्यक्ष विधि से उसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, वे भी अन्ततः श्रीकृष्ण को प्राप्त होते हैं। “अनेक जन्मों के बाद बुद्धिमान व्यक्ति वासुदेव को ही सब कुछ जानते हुए मेरी शरण में आता है।” जब मनुष्य को अनेक जन्मों के

बाद पूर्ण ज्ञान होता है, तो वह कृष्ण की शरण ग्रहण करता है। यदि कोई इस श्लोक में बताई गई विधि से भगवान् के पास पहुँचता है, तो उसे इन्द्रियनिग्रह करना होता है, प्रत्येक प्राणी की सेवा करनी होती है, और समस्त जीवों के कल्याण-कार्य में रत होना होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को भगवान् कृष्ण के पास पहुँचना ही होता है, अन्यथा पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो पाता। प्रायः भगवान् की शरण में जाने के पूर्व पर्याप्त तपस्या करनी होती है।

आत्मा के भीतर परमात्मा का दर्शन करने के लिए मनुष्य को देखना, सुनना, स्वाद लेना, कार्य करना आदि ऐन्द्रिय कार्यों को बन्द करना होता है। तभी वह यह जान पाता है कि परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है। ऐसी अनुभूति होने पर वह किसी जीव से ईर्ष्या नहीं करता—उसे मनुष्य तथा पशु में कोई अन्तर नहीं दिखता, क्योंकि वह केवल आत्मा का दर्शन करता है, बाह्य आवरण का नहीं। लेकिन सामान्य व्यक्ति के लिए निराकार अनुभूति की यह विधि अत्यन्त कठिन सिद्ध होती है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

क्लेशः—कष्ट; अधिक-तरः—अत्यधिक; तेषाम्—उन; अव्यक्त—अव्यक्त के प्रति; आसक्त—अनुरक्त; चेतसाम्—मन वालों का; अव्यक्ता—अव्यक्त की ओर; हि—निश्चय ही; गतिः—प्रगति; दुःखम्—दुःख के साथ; देह-वद्भिः—देहधारी के द्वारा; अवाप्यते—प्राप्त किया जाता है।

जिन लोगों के मन परमेश्वर के अव्यक्त, निराकार स्वरूप के प्रति आसक्त हैं, उनके लिए प्रगति कर पाना अत्यन्त कष्टप्रद है। देहधारियों के लिए उस क्षेत्र में प्रगति कर पाना सदैव दुष्कर होता है।

तात्पर्य

अध्यात्मवादियों का समूह, जो परमेश्वर के अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार स्वरूप के पथ का अनुसरण करता है, ज्ञान-योगी कहलाता है,

और जो व्यक्ति भगवान् की भक्ति में रत रहकर पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहते हैं, वे भक्ति-योगी कहलाते हैं। यहाँ पर ज्ञान-योग तथा भक्ति-योग में निश्चित अन्तर बताया गया है। ज्ञान-योग का पथ यद्यपि मनुष्य को उसी लक्ष्य तक पहुँचाता है, किन्तु है अत्यन्त कष्टकारक, जब कि भक्ति-योग भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा होने के कारण सुगम है, और देहधारी के लिए स्वाभाविक भी है। जीव अनादि काल से देहधारी है। सैद्धान्तिक रूप से उसके लिए यह समझ पाना अत्यन्त कठिन है कि वह शरीर नहीं है। अतएव भक्ति-योगी कृष्ण के विग्रह को पूज्य मानता है, क्योंकि उसके मन में कोई न कोई शारीरिक बोध रहता है, जिसे इस रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। निस्सन्देह मन्दिर में परमेश्वर के स्वरूप की पूजा मूर्तिपूजा नहीं है। वैदिक साहित्य में साक्ष्य मिलता है कि पूजा *सगुण* तथा *निर्गुण* हो सकती है। मन्दिर में विग्रह-पूजा सगुण पूजा है, क्योंकि भगवान् को भौतिक गुणों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। लेकिन भगवान् के स्वरूप को चाहे पत्थर, लकड़ी या तैलचित्र जैसे भौतिक गुणों द्वारा क्यों न अभिव्यक्त किया जाय वह वास्तव में भौतिक नहीं होता। परमेश्वर की यही परम प्रकृति है।

यहाँ पर एक मोटा उदाहरण दिया जा सकता है। सड़कों के किनारे पत्रपेटिकाएँ होती हैं, जिनमें यदि हम अपने पत्र डाल दें, तो वे बिना किसी कठिनाई के अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। लेकिन यदि कोई ऐसी पुरानी पेटिका, या उसकी अनुकृति कहीं दिखे, जो डाकघर द्वारा स्वीकृत न हो, तो उससे वही कार्य नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार ईश्वर ने विग्रहरूप में, जिसे अर्चा-विग्रह कहते हैं, अपना प्रामाणिक (वैध) स्वरूप बना रखा है। यह अर्चा-विग्रह परमेश्वर का अवतार होता है। ईश्वर इसी स्वरूप के माध्यम से सेवा स्वीकार करते हैं। भगवान् सर्वशक्तिमान हैं, अतएव वे अर्चा-विग्रह रूपी अपने अवतार से भक्त की सेवाएँ स्वीकार कर सकते हैं, जिससे बद्ध जीवन वाले मनुष्य को सुविधा हो।

इस प्रकार भक्त को भगवान् के पास सीधे और तुरन्त ही पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होती, लेकिन जो लोग आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए निराकार विधि का अनुसरण करते हैं, उनके लिए यह मार्ग कठिन है। उन्हें

उपनिषदों जैसे वैदिक साहित्य के माध्यम से अव्यक्त स्वरूप को समझना होता है, उन्हें भाषा सीखनी होती है, इन्द्रियातीत अनुभूतियों को समझना होता है, और इन समस्त विधियों का ध्यान रखना होता है। यह सब एक सामान्य व्यक्ति के लिए सुगम नहीं होता। कृष्णभावनामृत में भक्तिरत मनुष्य मात्र गुरु के पथप्रदर्शन द्वारा, मात्र अर्चाविग्रह के नियमित नमस्कार द्वारा, मात्र भगवान् की महिमा के श्रवण द्वारा तथा मात्र भगवान् पर चढ़ाये गये उच्छिष्ट भोजन को खाने से भगवान् को सरलता से समझ लेता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि निर्विशेषवादी व्यर्थ ही कष्टकारक पथ को ग्रहण करते हैं, जिसमें अन्ततः परम सत्य का साक्षात्कार संदिग्ध बना रहता है। किन्तु सगुणवादी बिना किसी संकट, कष्ट या कठिनाई के भगवान् के पास सीधे पहुँच जाते हैं। ऐसा ही संदर्भ *श्रीमद्भागवत* में पाया जाता है। वहाँ यह कहा गया है कि यदि अन्ततः भगवान् की शरण में जाना ही है (इस शरण जाने की क्रिया को भक्ति कहते हैं) तो यदि कोई, ब्रह्म क्या है और क्या नहीं है, इसी को समझने का कष्ट आजीवन उठाता रहता है, तो इसका परिणाम अत्यन्त कष्टकारक होता है। अतएव यहाँ पर यह उपदेश दिया गया है कि आत्म-साक्षात्कार के इस कष्टप्रद मार्ग को ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि अन्तिम फल अनिश्चित रहता है।

जीव शाश्वत रूप से व्यष्टि आत्मा है और यदि वह आध्यात्मिक पूर्ण में तदाकार होना चाहता है तो वह अपनी मूल प्रकृति के शाश्वत (सत्) तथा ज्ञेय (चित्) पक्षों का साक्षात्कार तो कर सकता है, लेकिन आनन्दमय अंश की प्राप्ति नहीं हो पाती। ऐसा अध्यात्मवादी जो ज्ञानयोग में अत्यन्त विद्वान् होता है, किसी भक्त के अनुग्रह से भक्तियोग को प्राप्त होता है। उस समय निराकारवाद का दीर्घ अभ्यास कष्ट का कारण बन जाता है, क्योंकि वह उस विचार को त्याग नहीं पाता। अतएव देहधारी जीव, अभ्यास के समय या साक्षात्कार के समय, अव्यक्त की प्राप्ति में सदैव कठिनाई में पड़ जाता है। प्रत्येक जीव अंशतः स्वतन्त्र है और उसे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यह अव्यक्त अनुभूति उसके आध्यात्मिक आनन्दमय आत्म (स्व) की प्रकृति के विरुद्ध है। मनुष्य को चाहिए कि इस विधि को न अपनाये। प्रत्येक जीव के लिए कृष्णचेतना की विधि श्रेष्ठ मार्ग है, जिसमें

भक्ति में पूरी तरह व्यस्त रहना होता है। यदि कोई भक्ति की उपेक्षा करना चाहता है, तो नास्तिक होने का संकट रहता है। अतएव अव्यक्त विषयक एकाग्रता की विधि को, जो इन्द्रियों की पहुँच के परे है, जैसा कि इस श्लोक में पहले कहा जा चुका है, इस युग में प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। भगवान् कृष्ण ने इसका उपदेश नहीं दिया।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; सर्वाणि—समस्त; कर्माणि—कर्मों को; मयि—मुझमें; सन्न्यस्य—त्याग कर; मत्-पराः—मुझमें आसक्त; अनन्येन—अनन्य; एव—निश्चय ही; योगेन—ऐसे भक्तियोग के अभ्यास से; माम्—मुझको; ध्यायन्तः—ध्यान करते हुए; उपासते—पूजा करते हैं; तेषाम्—उनका; अहम्—मैं; समुद्धर्ता—उद्धारक; मृत्यु—मृत्यु के; संसार—संसार रूपी; सागरात्—समुद्र से; भवामि—होता हूँ; न—नहीं; चिरात्—दीर्घकाल के बाद; पार्थ—हे पृथापुत्र; मयि—मुझ पर; आवेशित—स्थिर; चेतसाम्—मन वालों को।

जो अपने सारे कार्यों को मुझमें अर्पित करके तथा अविचलित भाव से मेरी भक्ति करते हुए मेरी पूजा करते हैं और अपने चित्तों को मुझ पर स्थिर करके निरन्तर मेरा ध्यान करते हैं, उनके लिए हे पार्थ! मैं जन्म-मृत्यु के सागर से शीघ्र उद्धार करने वाला हूँ।

तात्पर्य

यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भक्तजन अत्यन्त भाग्यशाली हैं कि भगवान् उनका इस भवसागर से तुरन्त ही उद्धार कर देते हैं। शुद्ध भक्ति करने पर मनुष्य को इसकी अनुभूति होने लगती है कि ईश्वर महान हैं और जीवात्मा उनके अधीन है। उसका कर्तव्य है कि वह भगवान् की सेवा करे और यदि वह ऐसा नहीं करता, तो उसे माया की सेवा करनी होगी।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि केवल भक्ति से परमेश्वर को जाना जा सकता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण रूप से भक्त बने। भगवान् को प्राप्त करने के लिए वह अपने मन को कृष्ण में पूर्णतया एकाग्र करे। वह कृष्ण के लिए ही कर्म करे। चाहे वह जो भी कर्म करे लेकिन वह कर्म केवल कृष्ण के लिए होना चाहिए। भक्ति का यही आदर्श है। भक्त भगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहता। उसके जीवन का उद्देश्य कृष्ण को प्रसन्न करना होता है और कृष्ण की तुष्टि के लिए वह सब कुछ उत्सर्ग कर सकता है जिस प्रकार अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में किया था। यह विधि अत्यन्त सरल है। मनुष्य अपने कार्य में लगा रह कर हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन कर सकता है। ऐसे दिव्य कीर्तन से भक्त भगवान् के प्रति आकृष्ट हो जाता है।

यहाँ पर भगवान् वचन देते हैं कि वे ऐसे शुद्ध भक्त का तुरन्त ही भवसागर से उद्धार कर देंगे। जो योगाभ्यास में बढे चढे हैं, वे योग द्वारा अपनी आत्मा को इच्छानुसार किसी भी लोक में ले जा सकते हैं और अन्य लोग इस अवसर को विभिन्न प्रकार से उपयोग में लाते हैं, लेकिन जहाँ तक भक्त का सम्बन्ध है, उसके लिए यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि स्वयं भगवान् ही उसे ले जाते हैं। भक्त को वैकुण्ठ में जाने के पूर्व अनुभवी बनने के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। *वराह पुराण* में एक श्लोक आया है—

नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना।

गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः ॥

तात्पर्य यह है कि वैकुण्ठलोक में आत्मा को ले जाने के लिए भक्त को अष्टांगयोग साधने की आवश्यकता नहीं है। इसका भार भगवान् स्वयं अपने ऊपर लेते हैं। वे यहाँ पर स्पष्ट कह रहे हैं कि वे स्वयं ही उद्धारक बनते हैं। बालक अपने माता-पिता द्वारा अपने आप रक्षित होता रहता है, जिससे उसकी स्थिति सुरक्षित रहती है। इसी प्रकार भक्त को योगाभ्यास द्वारा अन्य लोकों में जाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, अपितु भगवान् अपने अनुग्रहवश स्वयं ही अपने पक्षीवाहन गरुड पर सवार होकर तुरन्त आते हैं और भक्त को भवसागर से उबार लेते हैं। कोई कितना

ही कुशल तैराक क्यों न हो, और कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, किन्तु समुद्र में गिर जाने पर वह अपने को नहीं बचा सकता। किन्तु यदि कोई आकर उसे जल से बाहर निकाल ले, तो वह आसानी से बच जाता है। इसी प्रकार भगवान् भक्त को इस भवसागर से निकाल लेते हैं। मनुष्य को केवल कृष्णभावनामृत की सुगम विधि का अभ्यास करना होता है, और अपने आपको अनन्य भक्ति में प्रवृत्त करना होता है। किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह अन्य समस्त मार्गों की अपेक्षा भक्तियोग को चुने।

नारायणीय में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये ।

तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः ॥

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह न तो सकाम कर्म की विभिन्न विधियों में उलझे, न ही कोरे चिन्तन से ज्ञान का अनुशीलन करे। जो परम भगवान् की भक्ति में लीन है, वह उन समस्त लक्ष्यों को प्राप्त करता है जो अन्य योग विधियों, चिन्तन, अनुष्ठानों, यज्ञों, दानपुण्यों आदि से प्राप्त होने वाले हैं। भक्ति का यही विशेष वरदान है।

केवल कृष्ण के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन करने से ही भक्त सरलता तथा सुखपूर्वक परम धाम को पहुँच सकता है। लेकिन इस धाम को अन्य किसी धार्मिक विधि द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

भगवद्गीता का निष्कर्ष अठारहवें अध्याय में इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

आत्म-साक्षात्कार की अन्य समस्त विधियों को त्याग कर केवल कृष्णभावनामृत में भक्ति सम्पन्न करनी चाहिए। इससे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य को अपने गत जीवन के पाप कर्मों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि उसका उत्तरदायित्व भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। अतएव मनुष्य को व्यर्थ ही

आध्यात्मिक अनुभूति में अपने उद्धार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह परम शक्तिमान ईश्वर कृष्ण की शरण ग्रहण करे। यही जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; एव—निश्चय ही; मनः—मन को; आधत्स्व—स्थिर करो; मयि—मुझमें; बुद्धिम्—बुद्धि को; निवेशय—लगाओ; निवसिष्यसि—तुम निवास करोगे; मयि—मुझमें; एव—निश्चय ही; अतः ऊर्ध्वम्—तत्पश्चात्; न—कभी नहीं; संशयः—सन्देह।

मुझ भगवान् में अपने चित्त को स्थिर करो और अपनी सारी बुद्धि मुझमें लगाओ। इस प्रकार तुम निस्सन्देह मुझमें सदैव वास करोगे।

तात्पर्य

जो भगवान् कृष्ण की भक्ति में रत रहता है, उसका परमेश्वर के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अतएव इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि प्रारम्भ से ही उसकी स्थिति दिव्य होती है। भक्त कभी भौतिक धरातल पर नहीं रहता—वह सदैव कृष्ण में वास करता है। भगवान् का पवित्र नाम तथा भगवान् अभिन्न हैं। अतः जब भक्त हरे कृष्ण कीर्तन करता है, तो कृष्ण तथा उनकी अन्तरंगाशक्ति भक्त की जिह्वा पर नाचते रहते हैं। जब वह कृष्ण को भोग चढ़ाता है, तो कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से उसे ग्रहण करते हैं और इस तरह भक्त इस उच्छिष्ट (जूठन) को खाकर कृष्णमय हो जाता है। जो इस प्रकार सेवा में नहीं लगता, वह नहीं समझ पाता कि यह सब कैसे होता है, यद्यपि *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में इसी विधि की संस्तुति की गई है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अथ—यदि, अतः; चित्तम्—मन को; समाधातुम्—स्थिर करने में; न—नहीं; शक्नोषि—समर्थ नहीं हो; मयि—मुझ पर; स्थिरम्—स्थिर भाव से; अभ्यास-योगेन—भक्ति के अभ्यास से; ततः—तब; माम्—मुझको; इच्छा—इच्छा करो; आप्तुम्—प्राप्त करने की; धनम्—जय—हे सम्पत्ति के विजेता, अर्जुन।

हे अर्जुन, हे धनञ्जय! यदि तुम अपने चित्त को अविचल भाव से मुझ पर स्थिर नहीं कर सकते, तो तुम भक्तियोग के विधि-विधानों का पालन करो। इस प्रकार तुम मुझे प्राप्त करने की चाह उत्पन्न करो।

तात्पर्य

इस श्लोक में भक्तियोग की दो पृथक्-पृथक् विधियाँ बताई गई हैं। पहली विधि उस व्यक्ति पर लागू होती है, जिसने दिव्य प्रेम द्वारा भगवान् कृष्ण के प्रति वास्तविक आसक्ति उत्पन्न कर ली है। दूसरी विधि उसके लिए है जिसने इस प्रकार से भगवान् कृष्ण के प्रति आसक्ति नहीं उत्पन्न की। इस द्वितीय श्रेणी के लिए नाना प्रकार के विधि-विधान हैं, जिनका पालन करके मनुष्य अन्ततः कृष्ण-आसक्ति अवस्था को प्राप्त हो सकता है।

भक्तियोग इन्द्रियों का परिष्कार (संस्कार) है। संसार में इस समय सारी इन्द्रियाँ सदा अशुद्ध हैं, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति में लगी हुई हैं। लेकिन भक्तियोग के अभ्यास से ये इन्द्रियाँ शुद्ध की जा सकती हैं, और शुद्ध हो जाने पर वे परमेश्वर के सीधे सम्पर्क में आती हैं। इस संसार में रहते हुए मैं किसी अन्य स्वामी की सेवा में रत हो सकता हूँ, लेकिन मैं सचमुच उसकी प्रेमपूर्ण सेवा नहीं करता। मैं केवल धन पाने के लिए सेवा करता हूँ। और वह स्वामी भी मुझसे प्रेम नहीं करता है, वह मुझसे सेवा कराता है और मुझे धन देता है। अतएव प्रेम का प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन आध्यात्मिक जीवन के लिए मनुष्य को प्रेम की शुद्ध अवस्था तक ऊपर उठना होता है। यह प्रेम अवस्था इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा भक्ति के अभ्यास से प्राप्त की जा सकती है।

यह ईश्वरप्रेम अभी प्रत्येक हृदय में सुप्त अवस्था में है। वहाँ पर यह ईश्वरप्रेम अनेक रूपों में प्रकट होता है, लेकिन भौतिक संगति से दूषित हो जाता है। अतएव उस भौतिक संगति से हृदय को विमल बनाना होता है

और उस सुप्त स्वाभाविक कृष्ण-प्रेम को जागृत करना होता है। यही भक्तियोग की पूरी विधि है।

भक्तियोग के विधि-विधानों का अभ्यास करने के लिए मनुष्य को किसी सुविज्ञ गुरु के मार्गदर्शन में कतिपय नियमों का पालन करना होता है—यथा ब्राह्ममुहूर्त में जागना, स्नान करना, मन्दिर में जाना तथा प्रार्थना करना एवं हरे कृष्ण कीर्तन करना, फिर अर्चा-विग्रह पर चढ़ाने के लिए फूल चुनना, अर्चा-विग्रह पर भोग चढ़ाने के लिए भोजन बनाना, प्रसाद ग्रहण करना आदि। ऐसे अनेक विधि-विधान हैं, जिनका पालन आवश्यक है। मनुष्य को शुद्ध भक्तों से नियमित रूप से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* सुनना चाहिए। इस अभ्यास से कोई भी ईश्वर-प्रेम के स्तर तक उठ सकता है और तब भगवद्धाम तक उसका पहुँचना ध्रुव है। विधि-विधानों के अन्तर्गत गुरु के आदेशानुसार भक्तियोग का यह अभ्यास करके मनुष्य निश्चय ही भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त हो सकेगा।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अभ्यासे—अभ्यास में; अपि—भी; असमर्थः—असमर्थ; असि—हो; मत्-कर्म—मेरे कर्म के प्रति; परमः—परायण; भव—बनो; मत्-अर्थम्—मेरे लिए; अपि—भी; कर्माणि—कर्म; कुर्वन्—करते हुए; सिद्धिम्—सिद्धि को; अवाप्स्यसि—प्राप्त करोगे।

यदि तुम भक्तियोग के विधि-विधानों का भी अभ्यास नहीं कर सकते, तो मेरे लिए कर्म करने का प्रयत्न करो, क्योंकि मेरे लिए कर्म करने से तुम पूर्ण अवस्था (सिद्धि) को प्राप्त होगे।

तात्पर्य

यदि कोई गुरु के निर्देशानुसार भक्तियोग के विधि-विधानों का अभ्यास नहीं भी कर पाता, तो भी परमेश्वर के लिए कर्म करके उसे पूर्णवस्था प्रदान कराई जा सकती है। यह कर्म किस प्रकार किया जाय,

इसकी व्याख्या ग्यारहवें अध्याय के पचपनवें श्लोक में पहले ही की जा चुकी है। मनुष्य में कृष्णभावनामृत के प्रचार हेतु सहानुभूति होनी चाहिए। ऐसे अनेक भक्त हैं जो कृष्णभावनामृत के प्रचार कार्य में लगे हैं। उन्हें सहायता की आवश्यकता है। अतः भले ही कोई भक्तियोग के विधि-विधानों का प्रत्यक्ष रूप से अभ्यास न कर सके, उसे ऐसे कार्य में सहायता देने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक प्रकार के प्रयास में भूमि, पूँजी, संगठन तथा श्रम की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार किसी भी व्यापार में रहने के लिए स्थान, उपयोग के लिए कुछ पूँजी, कुछ श्रम तथा विस्तार करने के लिए कुछ संगठन चाहिए, उसी प्रकार कृष्णसेवा के लिए भी इनकी आवश्यकता होती है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि भौतिकवाद में मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए सारा कार्य करता है, लेकिन यही कार्य कृष्ण की तुष्टि के लिए किया जा सकता है। यही दिव्य कार्य है। यदि किसी के पास पर्याप्त धन है, तो वह कृष्णभावनामृत के प्रचार के लिए कोई कार्यालय अथवा मन्दिर निर्मित कराने में सहायता कर सकता है अथवा वह प्रकाशन में सहायता पहुँचा सकता है। कर्म के विविध क्षेत्र हैं और मनुष्य को ऐसे कर्मों में रुचि लेनी चाहिए। यदि कोई अपने कर्मों के फल को नहीं त्याग सकता, तो कम से कम उसका कुछ प्रतिशत कृष्णभावनामृत के प्रचार में तो लगा ही सकता है। इस प्रकार कृष्णभावनामृत की दिशा में स्वेच्छा से सेवा करने से व्यक्ति भगवत्प्रेम की उच्चतर अवस्था को प्राप्त हो सकेगा, जहाँ उसे पूर्णता प्राप्त हो सकेगी।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अथ—यद्यपि; एतत्—यह; अपि—भी; अशक्तः—असमर्थ; असि—हो; कर्तुम्—करने में; मत्—मेरे प्रति; योगम्—भक्ति में; आश्रितः—निर्भर; सर्व-कर्म—समस्त कर्मों के; फल—फल का; त्यागम्—त्याग; ततः—तब; कुरु—करो; यत-आत्मवान्—आत्मस्थित।

किन्तु यदि तुम मेरे इस भावनामृत में कर्म करने में असमर्थ हो तो तुम अपने कर्म के समस्त फलों को त्याग कर कर्म करने का तथा आत्म-स्थित होने का प्रयत्न करो।

तात्पर्य

हो सकता है कि कोई व्यक्ति सामाजिक, पारिवारिक या धार्मिक कारणों से या किसी अन्य अवरोधों के कारण कृष्णभावनामृत के कार्यकलापों के प्रति सहानुभूति तक दिखा पाने में अक्षम रहे। यदि वह अपने को प्रत्यक्ष रूप से इन कार्यकलापों के प्रति जोड़ ले तो हो सकता है कि पारिवारिक सदस्य विरोध करें, या अन्य कठिनाइयाँ उठ खड़ी हों। जिस व्यक्ति के साथ ऐसी समस्याएँ लगी हों, उसे यह सलाह दी जाती है कि वह अपने कार्यकलापों के संचित फल को किसी शुभ कार्य में लगा दे। ऐसी विधियाँ वैदिक नियमों में वर्णित हैं। ऐसे अनेक यज्ञों तथा पुण्य कार्यों अथवा विशेष कार्यों के वर्णन हुए हैं, जिनमें अपने पिछले कार्यों के फलों को प्रयुक्त किया जा सकता है। इससे मनुष्य धीरे-धीरे ज्ञान के स्तर तक उठता है। ऐसा भी पाया गया है कि कृष्णभावनामृत के कार्यकलापों में रुचि न रहने पर भी जब मनुष्य किसी अस्पताल या किसी सामाजिक संस्था को दान देता है, तो वह अपने कार्यकलापों की गाढ़ी कमाई का परित्याग करता है। यहाँ पर इसकी भी संस्तुति की गई है, क्योंकि अपने कार्यकलापों के फल के परित्याग के अभ्यास से मनुष्य क्रमशः अपने मन को स्वच्छ बनाता है, और उस विमल मनःस्थिति में वह कृष्णभावनामृत को समझने में समर्थ होता है। कृष्णभावनामृत किसी अन्य अनुभव पर आश्रित नहीं होता, क्योंकि कृष्णभावनामृत स्वयं मन को विमल बनाने वाला है, किन्तु यदि कृष्णभावनामृत को स्वीकार करने में किसी प्रकार का अवरोध हो, तो मनुष्य को चाहिए कि अपने कर्मफल का परित्याग करने का प्रयत्न करे। ऐसी दशा में समाज सेवा, समुदाय सेवा, राष्ट्रीय सेवा, देश के लिए उत्सर्ग आदि कार्य स्वीकार किये जा सकते हैं, जिससे एक दिन मनुष्य भगवान् की शुद्ध भक्ति को प्राप्त हो सके। *भगवद्गीता* में ही (१८.४६) कहा गया है—यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्—यदि कोई परम कारण के लिए उत्सर्ग करना चाहे, तो भले ही वह यह न जाने कि वह परम कारण

कृष्ण हैं, फिर भी वह क्रमशः यज्ञ विधि से समझ जाएगा कि वह परम कारण कृष्ण ही हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्रेयः—श्रेष्ठ; हि—निश्चय ही; ज्ञानम्—ज्ञान; अभ्यासात्—अभ्यास से; ज्ञानात्—ज्ञान से; ध्यानम्—ध्यान; विशिष्यते—विशिष्ट समझा जाता है; ध्यानात्—ध्यान से; कर्म-फल-त्यागः—समस्त कर्म के फलों का परित्याग; त्यागात्—ऐसे त्याग से; शान्तिः—शान्ति; अनन्तरम्—तत्पश्चात्।

यदि तुम यह अभ्यास नहीं कर सकते, तो ज्ञान के अनुशीलन में लग जाओ। लेकिन ज्ञान से श्रेष्ठ ध्यान है और ध्यान से भी श्रेष्ठ है कर्म फलों का परित्याग क्योंकि ऐसे त्याग से मनुष्य को मनःशान्ति प्राप्त हो सकती है।

तात्पर्य

जैसा कि पिछले श्लोकों में बताया गया है, भक्ति के दो प्रकार हैं—विधि-विधानों से पूर्ण तथा भगवत्प्रेम की आसक्ति से पूर्ण। किन्तु जो लोग कृष्णभावनामृत के नियमों का पालन नहीं कर सकते, उनके लिए ज्ञान का अनुशीलन करना श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान से मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति को समझने में समर्थ होता है। यही ज्ञान क्रमशः ध्यान तक पहुँचाने वाला है, और ध्यान से क्रमशः परमेश्वर को समझा जा सकता है। ऐसी भी विधियाँ हैं जिनसे मनुष्य अपने को परब्रह्म मान बैठता है, और यदि कोई भक्ति करने में असमर्थ है, तो ऐसा ध्यान भी अच्छा है। यदि कोई इस प्रकार से ध्यान नहीं कर सकता, तो वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के लिए कतिपय कर्तव्यों का आदेश है, जिसे हम *भगवद्गीता* के अन्तिम अध्याय में देखेंगे। लेकिन प्रत्येक दशा में मनुष्य को अपने कर्मफल का त्याग करना होगा—जिसका अर्थ है कर्मफल को किसी अच्छे कार्य में लगाना।

संक्षेपतः, सर्वोच्च लक्ष्य, भगवान् तक पहुँचने की दो विधियाँ हैं— एक विधि है क्रमिक विकास की और दूसरी प्रत्यक्ष विधि। कृष्णभावनामृत में भक्ति प्रत्यक्ष विधि है। अन्य विधि में कर्मों के फल का त्याग करना होता है, तभी मनुष्य ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है। उसके बाद ध्यान की अवस्था तथा फिर परमात्मा के बोध की अवस्था और अन्त में भगवान् की अवस्था आ जाती है। मनुष्य चाहे तो एक एक पग करके आगे बढ़ने की विधि अपना सकता है, या प्रत्यक्ष विधि ग्रहण कर सकता है। लेकिन प्रत्यक्ष विधि हर एक के लिए सम्भव नहीं है। अतः अप्रत्यक्ष विधि भी अच्छी है। लेकिन यहाँ यह समझ लेना होगा कि अर्जुन के लिए अप्रत्यक्ष विधि नहीं सुझाई गई, क्योंकि वह पहले से परमेश्वर के प्रति प्रेमाभक्ति की अवस्था को प्राप्त था। यह तो उन लोगों के लिए है, जो इस अवस्था को प्राप्त नहीं हैं। उनके लिए तो त्याग, ज्ञान, ध्यान तथा परमात्मा एवं ब्रह्म की अनुभूति की क्रमिक विधि ही पालनीय है। लेकिन जहाँ तक *भगवद्गीता* का सम्बन्ध है, उसमें तो प्रत्यक्ष विधि पर ही बल है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्यक्ष विधि ग्रहण करने तथा भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाने की सलाह दी जाती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अद्वेष्टा—ईर्ष्याविहीन; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों के प्रति; मैत्रः—मैत्रीभाव वाला; करुणः—दयालु; एव—निश्चय ही; च—भी; निर्ममः—स्वामित्व की भावना से रहित; निरहङ्कारः—मिथ्या अहंकार से रहित; सम—समभाव; दुःख—दुःख; सुखः—तथा सुख में; क्षमी—क्षमावान्; सन्तुष्टः—प्रसन्न, तुष्ट; सततम्—निरन्तर; योगी—भक्ति में निरत; यत-आत्मा—आत्मसंयमी; दृढ-निश्चयः—संकल्प सहित; मयि—मुझमें; अर्पित—संलग्न; मनः—मन को; बुद्धिः—तथा बुद्धि को; यः—जो; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; सः—वह; मे—मेरा; प्रियः—प्यारा।

जो किसी से द्वेष नहीं करता, लेकिन सभी जीवों का दयालु मित्र है, जो अपने को स्वामी नहीं मानता और मिथ्या अहंकार से मुक्त है, जो सुख-दुख में समभाव रहता है, सहिष्णु है, सदैव आत्मतुष्ट रहता है, आत्मसंयमी है तथा जो निश्चय के साथ मुझमें मन तथा बुद्धि को स्थिर करके भक्ति में लगा रहता है, ऐसा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य

शुद्ध भक्ति पर पुनः आकर भगवान् इन दोनों श्लोकों में शुद्ध भक्त के दिव्य गुणों का वर्णन कर रहे हैं। शुद्ध भक्त किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता, न ही वह किसी के प्रति ईर्ष्यालु होता है। न वह अपने शत्रु का शत्रु बनता है। वह तो सोचता है “यह व्यक्ति मेरे विगत दुष्कर्मों के कारण मेरा शत्रु बना हुआ है, अतएव विरोध करने की अपेक्षा कष्ट सहना अच्छा है।” श्रीमद्भागवत में (१०.१४.८) कहा गया है—
तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्। जब भी कोई भक्त मुसीबत में पड़ता है, तो वह सोचता है कि यह भगवान् की मेरे ऊपर कृपा ही है। मुझे अपने विगत दुष्कर्मों के अनुसार इससे कहीं अधिक कष्ट भोगना चाहिए था। यह तो भगवत्कृपा है कि मुझे मिलने वाला पूरा दण्ड नहीं मिल रहा है। भगवत्कृपा से थोड़ा ही दण्ड मिल रहा है। अतएव अनेक कष्टपूर्ण परिस्थितियों में भी वह सदैव शान्त तथा धीर बना रहता है। भक्त सदैव प्रत्येक प्राणी पर, यहाँ तक कि अपने शत्रु पर भी, दयालु होता है। निर्मम का अर्थ यह है कि भक्त शारीरिक कष्टों को प्रधानता नहीं प्रदान करता, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि वह भौतिक शरीर नहीं है। वह अपने को शरीर नहीं मानता है, अतएव वह मिथ्या अहंकार के बोध से मुक्त रहता है, और सुख तथा दुःख में समभाव रखता है। वह सहिष्णु होता है और भगवत्कृपा से जो कुछ प्राप्त होता है, उसी से सन्तुष्ट रहता है। वह ऐसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता जो कठिनाई से मिले। अतएव वह सदैव प्रसन्नचित्त रहता है। वह पूर्णयोगी होता है, क्योंकि वह अपने गुरु के आदेशों पर अटल रहता है, और चूँकि उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं, अतः वह दृढनिश्चय होता है। वह झूठे तर्कों से विचलित नहीं

होता, क्योंकि कोई उसे भक्ति के दृढ़ संकल्प से हटा नहीं सकता। वह पूर्णतया अवगत रहता है कि कृष्ण उसके शाश्वत प्रभु हैं, अतएव कोई भी उसे विचलित नहीं कर सकता। इन समस्त गुणों के फलस्वरूप वह अपने मन तथा बुद्धि को पूर्णतया परमेश्वर पर स्थिर करने में समर्थ होता है। भक्ति का ऐसा आदर्श अत्यन्त दुर्लभ है, लेकिन भक्त भक्ति के विधि-विधानों का पालन करते हुए उसी अवस्था में स्थित रहता है और फिर भगवान् कहते हैं कि ऐसा भक्त उन्हें अति प्रिय है, क्योंकि भगवान् उसकी कृष्णभावना से युक्त कार्यकलापों से सदैव प्रसन्न रहते हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिससे; न—कभी नहीं; उद्विजते—उद्विग्न होते हैं; लोकः—लोग;
लोकात्—लोगों से; न—कभी नहीं; उद्विजते—विचलित होता है; च—भी; यः—जो;
हर्ष—सुख; अमर्ष—दुःख; भय—भय; उद्वेगैः—तथा चिन्ता से; मुक्तः—मुक्त; यः—
जो; सः—वह; च—भी; मे—मेरा; प्रियः—प्रिय।

जिससे किसी को कष्ट नहीं पहुँचता तथा जो अन्य किसी के द्वारा विचलित नहीं किया जाता, जो सुख-दुख में, भय तथा चिन्ता में समभाव रहता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य

इस श्लोक में भक्त के कुछ अन्य गुणों का वर्णन हुआ है। ऐसे भक्त द्वारा कोई व्यक्ति कष्ट, चिन्ता, भय या असन्तोष को प्राप्त नहीं होता। चूँकि भक्त सबों पर दयालु होता है, अतएव वह ऐसा कार्य नहीं करता, जिससे किसी को चिन्ता हो। साथ ही, यदि अन्य लोग भक्त को चिन्ता में डालना चाहते हैं, तो वह विचलित नहीं होता। यह भगवत्कृपा ही है कि वह किसी बाह्य उपद्रव से क्षुब्ध नहीं होता। वास्तव में सदैव कृष्णभावनामृत में लीन रहने तथा भक्ति में रत रहने के कारण ही ऐसे भौतिक उपद्रव भक्त को विचलित नहीं कर पाते। सामान्य रूप से विषयी व्यक्ति अपने शरीर तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी वस्तु को पाकर अत्यन्त प्रसन्न होता है, लेकिन जब वह देखता है कि अन्यो के पास इन्द्रियतृप्ति के लिए ऐसी

वस्तु है, जो उसके पास नहीं है, तो वह दुःख तथा ईर्ष्या से पूर्ण हो जाता है। जब वह अपने शत्रु से बदले की शंका करता है, तो वह भयभीत रहता है, और जब वह कुछ भी करने में सफल नहीं होता, तो निराश हो जाता है। ऐसा भक्त, जो इन समस्त उपद्रवों से परे होता है, कृष्ण को अत्यन्त प्रिय होता है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अनपेक्षः—इच्छारहित; शुचिः—शुद्ध; दक्षः—पटु; उदासीनः—चिन्ता से मुक्त; गत-व्यथः—सारे कष्टों से मुक्त; सर्व-आरम्भ—समस्त प्रयत्नों का; परित्यागी—परित्याग करने वाला; यः—जो; मत्-भक्तः—मेरा भक्त; सः—वह; मे—मेरा; प्रियः—अतिशय प्रिय।

मेरा ऐसा भक्त जो सामान्य कार्य-कलापों पर आश्रित नहीं है, जो शुद्ध है, दक्ष है, चिन्तारहित है, समस्त कष्टों से रहित है और किसी फल के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता, मुझे अतिशय प्रिय है।

तात्पर्य

भक्त को धन दिया जा सकता है, किन्तु उसे धन अर्जित करने के लिए संघर्ष नहीं करना चाहिए। भगवत्कृपा से यदि उसे स्वयं धन की प्राप्ति हो, तो वह उद्विग्न नहीं होता। स्वाभाविक है कि भक्त दिनभर में दो बार स्नान करता है और भक्ति के लिए प्रातःकाल जल्दी उठता है। इस प्रकार वह बाहर तथा भीतर से स्वच्छ रहता है। भक्त सदैव दक्ष होता है, क्योंकि वह जीवन के समस्त कार्यकलापों के सार को जानता है और प्रामाणिक शास्त्रों में दृढ़विश्वास रखता है। भक्त कभी किसी दल में भाग नहीं लेता, अतएव वह चिन्तामुक्त रहता है। समस्त उपाधियों से मुक्त होने के कारण कभी व्यथित नहीं होता, वह जानता है कि उसका शरीर एक उपाधि है, अतएव शारीरिक कष्टों के आने पर वह मुक्त रहता है। शुद्ध भक्त कभी भी ऐसी किसी वस्तु के लिए प्रयास नहीं करता, जो भक्ति के नियमों

के प्रतिकूल हो। उदाहरणार्थ, किसी विशाल भवन को बनवाने में काफी शक्ति लगती है, अतएव वह कभी ऐसे कार्य में हाथ नहीं लगाता, जिससे उसकी भक्ति में प्रगति न होती हो। वह भगवान् के लिए मन्दिर का निर्माण करा सकता है और उसके लिए वह सभी प्रकार की चिन्ताएँ उठा सकता है, लेकिन वह अपने परिवार वालों के लिए बड़ा सा मकान नहीं बनाता।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।

शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; न—कभी नहीं; हृष्यति—हर्षित होता है; न—कभी नहीं; द्वेष्टि—शोक करता है; न—कभी नहीं; शोचति—पछतावा करता है; न—कभी नहीं; काङ्क्षति—इच्छा करता है; शुभ—शुभ; अशुभ—तथा अशुभ का; परित्यागी—त्याग करने वाला; भक्ति-मान्—भक्त; यः—जो; सः—वह है; मे—मेरा; प्रियः—प्रिय।

जो न कभी हर्षित होता है, न शोक करता है, जो न तो पछताता है, न इच्छा करता है, तथा जो शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार की वस्तुओं का परित्याग कर देता है, ऐसा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

तात्पर्य

शुद्ध भक्त भौतिक लाभ से न तो हर्षित होता है और न हानि से दुःखी होता है, वह पुत्र या शिष्य की प्राप्ति के लिए न तो उत्सुक रहता है, न ही उनके न मिलने पर दुःखी होता है। वह अपनी किसी प्रिय वस्तु के खो जाने पर उसके लिए पछताता नहीं। इसी प्रकार यदि उसे अभीप्सित की प्राप्ति नहीं हो पाती तो वह दुःखी नहीं होता। वह समस्त प्रकार के शुभ, अशुभ तथा पापकर्मों से सदैव परे रहता है। वह परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए बड़ी से बड़ी विपत्ति सहने को तैयार रहता है। भक्ति के पालन में उसके लिए कुछ भी बाधक नहीं बनता। ऐसा भक्त कृष्ण को अतिशय प्रिय होता है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
 शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥
 तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
 अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

समः—समान; शत्रौ—शत्रु में; च—तथा; मित्रे—मित्र में; च—भी; तथा—उसी प्रकार; मान—सम्मान; अपमानयोः—तथा अपमान में; शीत—जाड़ा; उष्ण—गर्मी; सुख—सुख; दुःखेषु—तथा दुःख में; समः—समभाव; सङ्ग-विवर्जितः—समस्त संगति से मुक्त; तुल्य—समान; निन्दा—अपयश; स्तुतिः—तथा यश में; मौनी—मौन; सन्तुष्टः—सन्तुष्ट; येन केनचित्—जिस किसी तरह; अनिकेतः—बिना घर-बार के; स्थिर—दृढ़; मतिः—संकल्प; भक्ति-मान्—भक्ति में रत; मे—मेरा; प्रियः—प्रिय; नरः—मनुष्य ।

जो मित्रों तथा शत्रुओं के लिए समान है, जो मान तथा अपमान, शीत तथा गर्मी, सुख तथा दुःख, यश तथा अपयश में समभाव रखता है, जो दूषित संगति से सदैव मुक्त रहता है, जो सदैव मौन और किसी भी वस्तु से संतुष्ट रहता है, जो किसी प्रकार के घर-बार की परवाह नहीं करता, जो ज्ञान में दृढ़ है और जो भक्ति में संलग्न है—ऐसा पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है ।

तात्पर्य

भक्त सदैव कुसंगति से दूर रहता है । मानव समाज का यह स्वभाव है कि कभी किसी की प्रशंसा की जाती है, तो कभी उसकी निन्दा की जाती है । लेकिन भक्त कृत्रिम यश तथा अपयश, दुःख या सुख से ऊपर उठा हुआ होता है । वह अत्यन्त धैर्यवान् होता है । वह कृष्णकथा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोलता । अतः उसे मौनी कहा जाता है । मौनी का अर्थ यह नहीं कि वह बोले नहीं, अपितु यह कि वह अनर्गल आलाप न करे । मनुष्य को आवश्यकता पर बोलना चाहिए और भक्त के लिए सर्वाधिक अनिवार्य वाणी तो भगवान् के लिए बोलना है । भक्त समस्त परिस्थितियों में सुखी रहता है । कभी उसे स्वादिष्ट भोजन मिलता है तो कभी नहीं, किन्तु वह सन्तुष्ट रहता है । वह आवास की सुविधा की चिन्ता नहीं करता । वह कभी

पेड़ के नीचे रह सकता है, तो कभी अत्यन्त उच्च प्रासाद में, किन्तु वह इनमें से किसी के प्रति आसक्त नहीं रहता। वह स्थिर कहलाता है, क्योंकि वह अपने संकल्प तथा ज्ञान में दृढ़ होता है। भले ही भक्त के लक्षणों की कुछ पुनरावृत्ति हुई हो, लेकिन यह इस बात पर बल देने के लिए है कि भक्त को ये सारे गुण अर्जित करने चाहिए। सद्गुणों के बिना कोई शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः*—जो भक्त नहीं है, उसमें सद्गुण नहीं होता। जो भक्त कहलाना चाहता है, उसे सद्गुणों का विकास करना चाहिए। यह अवश्य है कि उसे इन गुणों के लिए अलग से बाह्य प्रयास नहीं करना पड़ता, अपितु कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में संलग्न रहने के कारण उसमें ये गुण स्वतः ही विकसित हो जाते हैं।

ये तु धर्माभूतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।

श्रद्धाणा मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; धर्म—धर्म रूपी; अभूतम्—अभूत को; इदम्—इस; यथा—जिस तरह से, जैसा; उक्तम्—कहा गया; पर्युपासते—पूर्णतया तत्पर रहते हैं; श्रद्धाणाः—श्रद्धा के साथ; मत्-परमाः—मुझ परमेश्वर को सब कुछ मानते हुए; भक्ताः—भक्तजन; ते—वे; अतीव—अत्यधिक; मे—मेरे; प्रियाः—प्रिय।

जो इस भक्ति के अमर पथ का अनुसरण करते हैं, और जो मुझे ही अपना चरम लक्ष्य बना कर श्रद्धासहित पूर्णरूपेण संलग्न रहते हैं, वे भक्त मुझे अत्यधिक प्रिय हैं।

तात्पर्य

इस अध्याय में दूसरे श्लोक से अन्तिम श्लोक तक—*मय्यावेश्य मनो ये माम्* (मुझ पर मन को स्थिर करके) से लेकर *ये तु धर्माभूतम् इदम्* (नित्य सेवा इस धर्म को) तक—भगवान् ने अपने पास तक पहुँचने की दिव्य सेवा की विधियों की व्याख्या की है। ऐसी विधियाँ उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं, और इनमें लगे हुए व्यक्तियों को वे स्वीकार कर लेते हैं। अर्जुन ने यह प्रश्न उठाया था कि जो निराकार ब्रह्म के पथ में लगा है, वह श्रेष्ठ है या जो साकार भगवान् की सेवा में। भगवान् ने इसका बहुत स्पष्ट उत्तर दिया कि आत्म-साक्षात्कार की समस्त विधियों में भगवान् की भक्ति

निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ है। दूसरे शब्दों में, इस अध्याय में यह निर्णय दिया गया है कि सुसंगति से मनुष्य में भक्ति के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, जिससे वह प्रामाणिक गुरु बनाता है, और तब वह उससे श्रद्धा, आसक्ति तथा भक्ति के साथ सुनता है, कीर्तन करता है और भक्ति के विधि-विधानों का पालन करने लगता है। इस तरह वह भगवान् की दिव्य सेवा में तत्पर हो जाता है। इस अध्याय में इस मार्ग की संस्तुति की गई है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि भगवत्प्राप्ति के लिए भक्ति ही आत्म-साक्षात्कार का परम मार्ग है। इस अध्याय में परम सत्य की जो निराकार धारणा वर्णित है, उसकी संस्तुति उस समय तक के लिए की गई है, जब तक मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिए अपने आपको समर्पित नहीं कर देता है। दूसरे शब्दों में, जब तक उसे शुद्ध भक्त की संगति करने का अवसर प्राप्त नहीं होता तभी तक निराकार की धारणा लाभप्रद हो सकती है। परम सत्य की निराकार धारणा में मनुष्य कर्मफल के बिना कर्म करता है और आत्मा तथा पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ध्यान करता है। यह तभी तक आवश्यक है, जब तक शुद्ध भक्त की संगति प्राप्त न हो। सौभाग्यवश यदि कोई शुद्ध भक्ति में सीधे कृष्णभावनामृत में लगना चाहता है तो उसे आत्म-साक्षात्कार के इतने सोपान पार नहीं करने होते। *भगवद्गीता* के बीच के छः अध्यायों में जिस प्रकार भक्ति का वर्णन हुआ है, वह अत्यन्त हृदयग्राही है। किसी को जीवन-निर्वाह के लिए वस्तुओं की चिन्ता नहीं करनी होती, क्योंकि भगवत्कृपा से सारी वस्तुएँ स्वतः सुलभ होती हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय “भक्तियोग” का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।